चोरी, गाली और मारकाट
बाल साहित्य में इनका स्थान

सी.एन. सुब्रह्मण्यम

यह आलेख *मुस्कान* संस्था द्वारा आयोजित सेमिनार, किताबों में विविधता की ज़रूरत है, में दिए गए वक्तव्य पर आधारित है।

जब कोई सामग्री छपकर आती है, उस पर मध्यम-वर्ग की मुहर होती है। छपाई, लेखन और प्रकाशन आधुनिक मध्यम-वर्ग के उद्भव से जुड़े हुए हैं[1], तो किसी चीज़ का छपना माने कहीं-न-कहीं मध्यम-वर्ग के कम-से-कम एक अंश की स्वीकृति उसे मिली ही होगी। मध्यम-वर्ग का एक जटिल अस्तित्व है। वह एक ओर अपने आपको पूरी मानव संस्कृति का पारखी उत्तराधिकारी मानता है और दूसरी ओर आधुनिक समाज में अपनी वर्गीय परिस्थिति से भी बँधा है। मानव इतिहास, संस्कृति और सभ्यता की उत्कृष्ट, सृजनशील, उदार और लोकतांत्रिक विरासत को बचाकर आगे बढ़ाने में उसकी भूमिका अहम है। इस प्रक्रिया में उसके मानकों को तय करने का अधिकार भी इस वर्ग ने अपने हाथों में ले लिया है। मगर उसके वास्तविक वर्ग-चरित्र को देखें तो वह संस्कृति की ऊँचाइयों में न बसकर, श्रमजीवियों व सत्ताधारी पूंजीपतियों के आपसी संघर्ष के बीच के दलदल में धँसा हुआ है। जब हम इस मध्यम-वर्ग द्वारा स्थापित संस्कृति के मानकों की विवेचना करते हैं तो हमें उसके जटिल चरित्र को लेकर सचेत होना ज़रूरी है।

बाल्यावस्था और बाल साहित्य सम्बन्धी कल्पनाओं के पीछे इस आधुनिक मध्यम-वर्ग का निर्णायक हाथ रहा है।[2] उत्पादन और पुनरुत्पादन से बालकों को दूर रखना, जीवन के कुत्सित पक्षों से उन्हें अबोध रखना - मगर किसी-न-किसी रूप से उन्हें

[1] *यूरोप में छपाई का आविष्कार 15वीं सदी में हुआ और वही दौर था वहाँ के मध्यम-वर्ग के उभरने का। छपाई और मध्यम-वर्ग, दोनों का विकास एक-दूसरे के पूरक और एक-दूसरे पर गहरे रूप में आश्रित रहे हैं। भारत के मध्यम-वर्ग के उद्भव और विकास में पुस्तक और पत्रिका प्रकाशन की अहम भूमिका रही है और इसी मध्यम-वर्ग ने प्रकाशन उद्योग को अपने नियंत्रण में लिया था।*

वयस्कों की इस दुनिया के लिए तैयार करना, बचपन की इन धारणाओं में निहित हैं। जैसे-जैसे बाल्यावस्था को 8 साल से खींचकर 18 साल तक लम्बा किया गया, उसके साथ उस अवस्था के लिए विशिष्ट साहित्य गढ़ने की ज़रूरत भी महसूस होने लगी। बाल्यावस्था की अबोधता को बनाए रखने के लिए उन सभी तत्वों से रहित साहित्य रचा जाने लगा जिनको मध्यम-वर्गीय मापदण्डों से सुन्दर या अच्छा नहीं माना गया। श्रमसाध्य उत्पादन कार्य, यौनिकता, लड़ाई, झगड़े, युद्ध, मृत्यु, चोरी, झूठ, फरेब, शोषण, संघर्ष - इन सबसे बचकर एक सुन्दर ख्वाब की दुनिया रचने का प्रयास किया गया। कम-से-कम इन तत्वों को कभी हावी होने नहीं दिया गया। जीवन की सुन्दरता और सच्चाई की जीत पर विश्वास बनाए रखने के लिए बाल साहित्य का उपयोग किया गया। इसी तरह के कृत्रिम साहित्य का एक उदाहरण हमारी भाषा की पाठ्यपुस्तकों के पाठों में देखा जा सकता है, जहाँ पहले बिना मात्रा वाले वाक्य, फिर 'आ' की मात्रा वाले वाक्य और बाद में एक-एक करके अन्य मात्राओं का उपयोग करते हुए वाक्य पढ़े जा सकते हैं। इसमें भी बचपन और बच्चों की क्षमताओं की एक खास कल्पना निहित है।

छपाई और प्रकाशन की मदद से इस मध्यम-वर्ग ने मानक भाषा का सृजन किया जो कि यूँ तो बोलचाल की भाषा से उत्पन्न हुई मगर उसे एक साहित्यिक और आदर्श सामाजिक व्यवहार के ढाँचे में बाँधा गया। उन तमाम तत्वों को इस मानक भाषा से बाहर किया गया जिन्हें मध्यम-वर्ग अप्रिय, गलत या घिनौना मानता है। गाली-गलौच, यौनिकता, आत्मीय सम्बोधन, सन्दर्भ आधारित अभिव्यक्ति, बोलचाल के दौरान शब्दों में होने वाले फेर-बदल (अपभ्रंश) आदि को तो बाहर किया गया मगर ऊँच-नीच, अभिजातियता, अमूर्तता आदि से जुड़े तत्वों को बखूबी आत्मसात किया गया। छपने योग्य और सदन में बोलने योग्य भाषा के पैमाने इस तरह निर्धारित हुए।

अगर हम इस मध्यम-वर्ग के तत्वाधान में तैयार साहित्य की तुलना उससे पहले के अभिजातिय और लोकप्रिय, दोनों तरह के साहित्य से करें तो पाएँगे कि उन पर इस तरह की चिन्ताएँ हावी नहीं थीं।

ऊपर कही कई बातों पर चर्चा और मतभेद ज़रूर हो सकते हैं मगर इस बात पर शायद ही सन्देह होगा कि जिस तरह की भाषा को हम आज आदर्श मानते हैं, संस्कृति के जिन

[2] *बाल्यावस्था एक प्राकृतिक परिघटना न होकर, समाज निर्मित है जिसमें उस समाज की ज़रूरतों व कल्पनाओं का बड़ा हाथ है। यह फिलिप एरीज़ की पथ-प्रदर्शक पुस्तक centuries of childhood ने स्थापित किया था और अब तक इस विषय पर बहुत कुछ लिखा जा चुका है।*

चित्र-1: बैबिलोनिया के राजा हम्मुरापी।

तत्वों को लेकर संवेदनशील हैं या फिर बाल साहित्य के लिए जिन बातों को उपयुक्त मानते हैं, वे हाल के सौ-दो-सौ सालों में गढ़े गए हैं और सायास गढ़े गए हैं। इसलिए इन्हें बदला भी जा सकता है। इनके विकल्प भी मौजूद हैं। कुछ विकल्प तो प्राचीन और मध्य-कालीन भारतीय साहित्य और संस्कृति में मिलते हैं और कुछ लोक-साहित्य में और कुछ हद तक आधुनिक दलित साहित्य में। मैं पहले चोरी की बात को लेता हूँ क्योंकि वह काफी दिलचस्प विषय है।

चोरी

चोरी की धारणा कहीं-न-कहीं व्यक्तिगत सम्पत्ति की धारणा से जुड़ी है और जैसे समाज में यह धारणा बनी, उसके साथ बिना अनुमति के किसी की चीज़ को लेना गलत माना जाने लगा और यहाँ तक कि उसे दण्डनीय अपराध माना जाने लगा। शिकारी-संग्राहकों में निजी सम्पत्ति की विकसित धारणा नहीं थी, तो उन समाजों में एक-दूसरे के सामान को काफी आसानी-से लेना व उपयोग करना सहज था। आम तौर पर आदिवासी कबीलाई समाजों में भी एक-दूसरे की चीज़ों के उपयोग को लेकर सहजता दिखती है। लेकिन वर्ग आधारित शहरी समाजों में निजी सम्पत्ति की रक्षा को लेकर नई चिन्ताएँ देखने को मिलती हैं। ईसा पूर्व 1754 में बैबिलोनिया के राजा हम्मुरापी ने शायद सबसे प्राचीन उपलब्ध कानून बनाया और उसमें चोरी करते हए पकड़े जाने पर मौत की सज़ा का प्रावधान था। कुछ ऐसी ही बात यूनानी और रोमन कानून में भी थी। प्रारम्भिक ईसाइयों में चोरी को लेकर दुविधा थी, यह स्पष्ट है। एक ओर ईश्वर के दस आदेशों में एक था कि तुम चोरी नहीं करोगे मगर

प्रारम्भिक इसाई निजी सम्पत्ति के खिलाफ थे और निजी सम्पत्ति रखने को ही चोरी मानते थे। वे साझी-सम्पत्ति और उसके साझे उपयोग की वकालत करते थे।

भारत की बात करें तो हड़प्पा सभ्यता में क्या सोचते थे, हमें पता नहीं। वेदों में अन्य कबीलों की गायों को चुराना फक्र की बात थी। वैसे उसे चोरी भी नहीं माना जाता था। यजुर्वेद में शिव को तस्कराणां पति कहा गया है। यानी कि चोरों का सरदार। मनुस्मृति तक आते-आते मामला काफी बदल जाता है और मनु मानते हैं कि किसी राजा की प्रमुख ज़िम्मेदारियों में चोरी रोकना और चोरों को दण्ड देना है। यह केवल ब्राह्मणवादी सोच नहीं थी। कुछ हद तक जैन और बौद्ध परम्पराओं ने भी इन मूल्यों को अपनाया हुआ था। जैन महाव्रतों में अस्तेय - चोरी न करना एक प्रमुख व्रत रहा है।

लेकिन भारतीय परम्परा में चोरी और चोरों को लेकर रोचक धाराएँ हैं। कई पाश्चात्य विद्वानों ने आश्चर्य जताया है कि कैसे भागवत पुराण में कृष्ण को माखन चोरी करते हुए महिमा-मण्डित किया गया है। यह धारा चोरी को लेकर कुछ अलग विचार रखती है। बौद्ध साहित्य में भी चोरों के प्रति सरल हेय नज़रिया नहीं है। कहीं-कहीं तो चोरी करने को उचित भी माना गया है, जैसे अम्बचोर जातक। एक बार (लगभग 150 ईसवी के आसपास), भिक्षु नागार्जुन के पास एक चोर पहुँचता है और कहता है कि "मैं एक चोर हूँ और मैं चोरी नहीं छोड़ सकता हूँ। जितने बाबा लोगों से मैं मिला हूँ, वे सब कहते हैं कि पहले चोरी करना छोड़ो। क्या मोक्ष प्राप्ति के लिए इसके अलावा और कोई चारा नहीं है?" नागार्जुन कहते हैं कि "भई, तुम तो चोरी करो या जो भी करते हो करो, मगर पूरी प्रज्ञा के साथ करो तो तुम मोक्ष की राह पर चलने लगोगे।" कहने का मतलब यह है कि चोरी को निकृष्ठ काम नहीं माना गया है।

मध्यकालीन साहित्य में चोरों और पेशेवर चोरी करने वाले समुदायों के बारे में सहज विवरण मिलते हैं। इनका काम चोरी है, इसके नियम-कायदे हैं, देवी-देवता और कर्मकाण्ड भी हैं। वह भी एक धर्म ही है। लगभग यही दृष्टि वेश्यावृत्ति के बारे में भी है। उसे भी सहज तरीके से दर्शाया गया है। मृच्छकटिक जैसे नाटक इस धारा के उदाहरण हैं। साँवरिया सेठ जैसे मन्दिर हैं, जहाँ कहा जाता है कि चोर व डकैत श्री कृष्ण को अपना पार्टनर मानकर अपनी कमाई का एक हिस्सा उन्हें चढ़ावे में देते हैं। नर्मदा यात्रा के दौरान शूलपाणेश्वर झाड़ी में भीलों द्वारा यात्रियों का लूटा जाना, यात्रा कर्मकाण्ड का ज़रूरी हिस्सा भी है। कहते हैं कि भील नायक एकलव्य के अँगूठा काटने के एवज में यह हक उन्हें मिला। कुल मिलाकर मानव समाज की विविधता के अन्तर्गत इन्हें माना गया है और स्वीकार भी किया गया है।

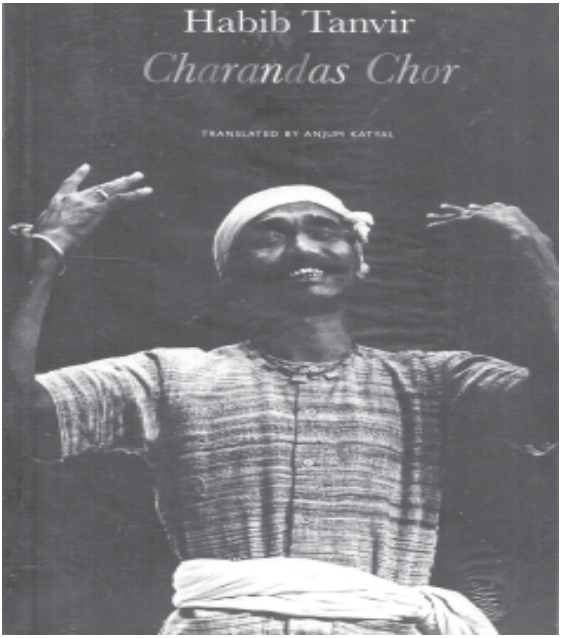

इस सामाजिक विविधता का गुणगान करने से पहले हमें ध्यान में रखना होगा कि यह जातिवादी समाज का एक गुण-विशेष है। जातिवादी समाज में विविधता को जाति-विशेष की विशेषता के रूप में तय किया जाता है। इसका मतलब यह है कि उस जाति के लोग और कोई काम नहीं कर सकते हैं, और न ही किसी और जाति का व्यक्ति उस काम को कर सकता है। और फिर इस तरह के काम करने वाले सामाजिक क्रम में एक खास दर्जे पर रखे जाते हैं जिसके ऊपर किसी अन्य जाति का वर्चस्व होता है और जिसके अधीन और जातियाँ होती हैं। यानी कि विविधता का आधार है वंशानुगतता और ऊँच-नीच का व्यवहार।

सामाजिक डकैती के रूप में चोरी

इंग्लैंड के जन-नायकों में से एक है - रॉबिन हुड[3] जो सामन्ती अन्याय के विरुद्ध लड़ता था और अमीरों को लूटकर गरीबों की मदद करता था। इसी तरह के कई नायक भारतीय लोक जीवन में भी मिलते हैं और उनकी वीर गाथाएँ गाँव-गाँव में गाई जाती रही हैं। इनमें से अधिकांश दलित या अन्य शोषित समाजों से ताल्लुक रखते थे।

लोक साहित्य पैराडॉक्स एवं विडम्बनाओं की मदद से चोरी से जुड़ी नैतिक-अनैतिक, काला-सफेद वाली सोच व धारणाओं को चुनौती देता है। चरणदास चोर की कहानी जिसे विजयदान देथा और हबीब

[3] *यह प्रसिद्ध इतिहासकार एरिक हॉब्सबाम द्वारा इज़हार किया गया शब्द है, जिसे वे उन डाकुओं के लिए उपयोग करते हैं जो लोकप्रिय हुए और अमीरों से चोरी करके गरीबों की मदद करते थे। उनकी प्रसिद्ध पुस्तक 'द सोशिएल बैंडिट्स' देखें।*

तनवीर ने अमर किया, ऐसी ही एक लोक कथा पर आधारित है। श्याम बेनेगल ने इस पर बच्चों के लिए फिल्म भी बनाई। उसूल का पक्का सत्यवादी चोर जो अपने सिद्धान्तों के लिए जान दे देता है और समाज की तमाम मान्यताओं पर सवाल खड़े कर देता है।

तो क्या?

तो क्या इन सब बातों से आज के बाल साहित्य में इनके बारे में लिखने के लिए कोई सुराग मिलता है? मुझे लगता है कि दो तरह की सम्भावनाओं को टटोला जा सकता है।

पहला है, ऐतिहासिक और समाज-शास्त्रीय नज़रिए से बातों को रखना। तथाकथित अपराधिक वृत्तियाँ चाहे वह वेश्यावृत्ति हो या चोरी हो या तस्करी – समाज में क्यों पनपती हैं? वे इसी समाज को बनाए रखने में क्या भूमिका निभाते हैं और इस समाज के स्थापित मूल्यों को किस प्रकार चुनौती देते हैं और विकल्प प्रस्तुत करते हैं, वगैरह।

दूसरा, समाज में व्याप्त गम्भीर अपराधों की चर्चा करना जिनके सामने मामूली चोरी बहुत गौण हो जाती है। जातिवाद, पितृसत्ता, नस्लवाद आदि का प्रभाव अभी भी बाल साहित्य में कम ही दिखता है। किस प्रकार बड़े पूंजीपति और कम्पनियाँ समाज को और सामाजिक संसाधनों को लूट रहे हैं, नष्ट कर रहे हैं, किस प्रकार युद्ध लड़े जाते हैं, उनका आम लोगों पर क्या प्रभाव होता है? कैसे इन सबके

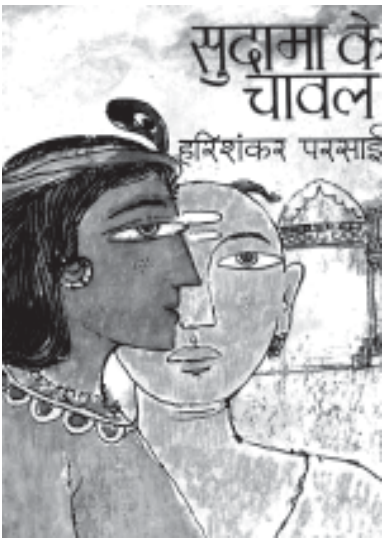

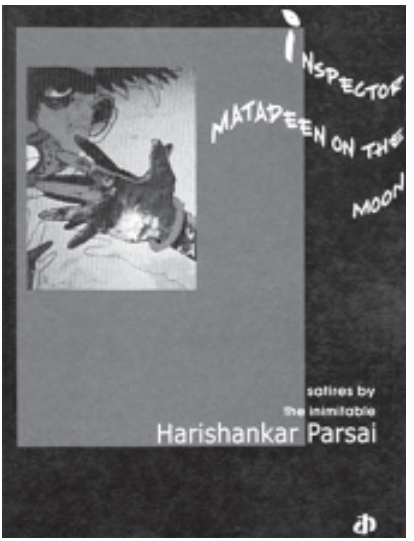

प्रतिरोधों का अपराधीकरण (क्रिमिनलाईज़ेशन) किया जाता है? अगर हम इन बातों को चर्चा के दायरे में लाते हैं तो समाज के आम और हाशियाकृत लोगों के व्यवहार को कुछ ज़्यादा सहजता और संवेदनशीलता के साथ देखा जा सकेगा। किसी लकीर को छोटा स्थापित करने के लिए पास में उससे लम्बी लाइन खींचने वाली बात है।

चरणदास चोर हमें एक और सुराग देता है, तर्क और हास्य का घातक मिश्रण। इसे व्यंग्य भी कहा जा सकता है। इसका उपयोग मानक सामाजिक मूल्यों को चुनौती देने के लिए काफी कारगर रूप से किया जा सकता है। यह कम-से-कम सवाल तो उठा देता है। हरिशंकर परसाई और उनके लेखों पर आधारित बाल नाटक जैसे सुदामा के चावल, इंस्पेक्टर मातादीन चाँद पर आदि इसकी कुछेक मिसाल प्रस्तुत करते हैं।

एकलव्य के साहित्य में सवाल उठाते हुए मान्यताओं को चुनौती देने का लम्बा अनुभव है। तथ्यों को पेश करना, किसी समस्या के विभिन्न पक्षों को सामने रखना और पाठक को निर्णय करने के लिए छोड़ देना, यह काफी हद तक उपयोगी होता है जब हम मध्यम-वर्ग को सम्बोधित करते हैं। लेकिन क्या यह तरीका उतना ही कारगर होगा जब हम हाशियाकृत समूहों को सम्बोधित करेंगे? मुझे लगता है कि यह तकनीक पर्याप्त नहीं होगी। मध्यम-वर्ग का तर्कशास्त्र और सोचने के तरीके, सभी सामाजिक तबके अपनाएँगे, मैं इस बात से आश्वस्त नहीं हूँ।

भाषा का सवाल

यह लगभग दुनिया भर में माना गया सच है कि श्रमजीवी तबकों की भाषा सुसंस्कृत मध्यम-वर्ग की भाषा से काफी फर्क है। लेकिन इस फर्क को कैसे समझें और साहित्य में कैसे निभाएँ? प्राचीन संस्कृत नाटकों में इसका एक उपाय निकाला गया था – कि हर पात्र अपनी जाति-हैसियत के हिसाब से भाषा बोलेगा। ऊँची जातियों के पुरुष परिष्कृत संस्कृत में बोलेंगे और महिलाएँ, निचली जाति के पुरुष और स्त्री अलग-अलग बोलियों में, जिन्हें अपभ्रंश कहा जाता था, बोलते थे।

मगर भाषा की बात केवल शब्द और वाक्य संरचना से जुड़ी हुई नहीं है। इसमें कई खास बातें शामिल हैं जिन पर आम तौर पर कम विचार किया जाता है। एक तो गाली-गलौच सहज उपयोग की बात है। दूसरा यह कि अक्सर मानक व्याकरण को तोड़ा-मरोड़ा जाता है और तीसरा अपनी बात को कहने के लिए शब्दों व वाक्यों के अलावा लहज़े और शारीरिक अभिनय का उपयोग। उच्च वर्णों की भाषा लिपिकरण से काफी प्रभावित होती है और सन्दर्भहीन स्थितियों में भी अर्थ समझ में आए, इसका ध्यान रखा जाता है। कोई बात मैं चिट्ठी में लिखूँ तो वह दूर-दराज़ के मेरे मित्र

को भी समझ में आनी चाहिए और एक असम्बद्ध व्यक्ति को भी समझ में आनी चाहिए और सम्भव हो तो पचास साल बाद के व्यक्ति को भी वही अर्थ समझ में आना चाहिए। और जैसे हम लिखते हैं, वैसे ही बोलने लगते हैं, सन्दर्भहीन अमूर्तता के साथ। लेकिन दलित भाषा लिपि से इतनी प्रभावित नहीं होती है कि वह सन्दर्भ-रहित अभिव्यक्ति करे। इन तीन बातों को मिलाकर देखें तो दलित भाषा साहित्य के लिए अनुपयोगी बन जाती है। गाली-गलौच को जगह देने वाली, व्याकरण विरुद्ध, शारीरिक अभिनय और लहज़े पर आधारित अभिव्यक्ति लिपिबद्ध साहित्य में कैसे काम आए!

कभी यह माना जाता था कि मज़दूरों की भाषा अभी विकसित नहीं है और सुशिक्षित एवं सुसंस्कृत होने से मज़दूरों की भाषा भी अपनी खासियतों के साथ मानक बन जाएगी। लेकिन वास्तव में यह विकास की समस्या नहीं है। दलित भाषा भी अन्य तबकों की भाषा जितनी ही विकसित है, केवल उसकी विकास की दिशा अलग रही है। उसकी अभिव्यक्ति की क्षमता या रेंज में कोई कमी नहीं है जिसे शिक्षा के माध्यम से पूरा करना है। उस भाषा में जिन भावों को एवं हकीकतों को गढ़ने व अभिव्यक्त करने की क्षमता है, वह अभिजात्य भाषा में कदापि नहीं है। इस कारण अगर हम उस भाषा का सहारा न लें तो वे तमाम अनुभव और कल्पनाएँ भी खो जाएँगी।

दलित भाषा के लिपिकरण में दो प्रमुख कठिनाइयाँ हैं। पहली, लहज़े और शारीरिक अभिव्यक्ति को कैसे लिखें। इसका एक उपाय शायद कॉमिक या ग्राफिक बुक्स के रूप में उपलब्ध है। इनमें भाव देखे जा सकते हैं और टेक्स्ट को अपने अन्दाज़ में कहा जा सकता है और पाठक से अपेक्षा की जा सकती है कि वह देखे, पढ़े और चित्र व टेक्सट को साथ रखकर समझे।

दूसरी समस्या का आसान निराकरण नहीं है। वह है गाली-गलौच वगैरह। बेशुमार कड़वाहट, दबाया गया गुस्सा और अत्याचार के प्रति नफरत कैसे व्यक्त किए जा सकते हैं? जो महिलाएँ पुलिस की हवस का शिकार होती हैं या जो बच्चे अपने माता-पिता को पुलिस की लात खाते देखते हैं, वे गाली से इतर किस तरह की भाषा का उपयोग कर सकते हैं? और फिर गाली-गलौच न केवल गुस्से को व्यक्त करने का माध्यम बनता है बल्कि प्रेम और आत्मीयता को दिखाने का भी माध्यम बन जाता है।

लेकिन सवाल केवल गाली का ही नहीं है। उनमें निहित जातिय, जेण्डर एवं नस्लीय विचार काफी समस्याप्रद हो सकते हैं। एक ओर आत्मीयता भरे सम्बोधन हो सकते हैं और दूसरी तरफ ऊँच-नीच से प्रेरित सम्बोधन। लेकिन आत्मीयता जताने के लिए लैंगिक या जातिय सम्मान को क्षति पहुँचाते सम्बोधन स्वीकार्य नहीं हो सकते।

मेरा मानना है कि हर व्यक्ति की गरिमा और आत्मसम्मान को ठेस पहुँचाए बगैर भाषा का उपयोग हमें बढ़ाना चाहिए। लेकिन विकल्प के रूप में हम केवल अभिजात्य सम्बोधन अपनाएँ, यह ज़रूरी नहीं है।

मारकाट

जब हमारे बच्चे छोटे थे तो एक पड़ौसी सज्जन ने उनके लिए श्री कृष्ण पर एक बालपुस्तक भेंट की। उसे सरसरी नज़र देखते ही मैं अचम्भित रह गया और डर-सा गया। उस पुस्तक में बालक कृष्ण को हर तरह के जानवरों और पक्षियों को और महिलाओं को भी मारते-वध करते हुए दिखाया गया था। बालसाहित्य था इसलिए हर काण्ड का रंगीन चित्र भी था। मुझे लगा कि प्राणि-जगत के प्रति इतनी हिंसक किताब मैं बच्चे को कैसे दूँ, पर मुझे यह सवाल भी सताता रहा कि भागवत पुराण तो हम बचपन से सुनते आए हैं। मगर तब तो इन हिंसक वारदातों के बारे में कभी इतनी घृणा या समस्या नहीं हुई, लेकिन बाल साहित्य में यह सब देखकर ऐसा क्यों महसूस हुआ?

हिंसा और मारकाट हमारे चारों तरफ के समाज की हकीकत है। रोज़ बच्चे बड़ों से पिटते हैं, माताओं को शराबी पिता के हाथ पिटते देखते हैं। गुटों के बीच मार-काट व झगड़े देखते हैं। पुलिस की लाठी की हिंसा सहते हैं और देखते हैं। भारत के बहुत-से इलाकों में संस्थागत हिंसा खुले आम दिखाई देती है। कभी आँध्र और तेलंगाना की वीडियो-बसों में सफर किया हो तो वहाँ की फिल्मों में किस हद तक हिंसा दर्शाई जाती है, इस बात का कुछ अन्दाज़ा हुआ ही होगा। इन्हें भी बच्चे अनायास ही देखते रहते हैं और आत्मसात करते हैं।

बच्चे खुद मारकाट के खेल खेलते रहते हैं। चोर-सिपाही और आजकल के कम्प्यूटर या मोबाइल गेम्स जिनमें लोगों को मारना एक सहज विधा है। ऐसा लगता है कि इतनी हिंसा के बीच रहते बच्चे उसके आदी हो जाते हैं और हिंसा को स्वीकार कर लेते हैं, उसमें निहित असमानता के साथ। मैं अपने से कमज़ोर को मार सकता हूँ और मेरे से ताकतवर मुझे मार सकता है। लेकिन बाल साहित्य में हिंसा की गैरमौजूदगी, यह भी शायद एक मध्यम-वर्गीय वर्जना है कि बच्चों को हिंसा की हकीकत से बचाना है। वैसे ही जैसे शुद्धोदन ने सिद्धार्थ को रोग-बुढ़ापे और मौत के दृश्यों से बचाया था।

हिंसा को बाल साहित्य में एक खास सन्दर्भ में दर्शाया जाता है जब नायक पौराणिक या राष्ट्रप्रेमी दुश्मनों का विनाश करता है। इसमें निहित सन्देश है कि हिंसा ऐसे मौकों पर जायज़ है और शौर्य की बात है। इस हिंसा के द्वारा नायक महानायक बन जाता है। इसी परम्परा में सेना और सैनिकों का महिमा-मण्डन किया जाता है। लेकिन एक सैनिक को दूसरे इन्सान की जान लेने के लिए कैसे तैयार

किया जाता है या फिर वह किन धर्मसंकटों व मानसिक तनावों से गुज़रता है, इनकी चर्चा कहीं भी नहीं होती है।

शौर्य गाथाओं में जिस हिंसा को जगह मिलती है, वह अन्य सन्दर्भों में गायब होती है। कभी भी बाल साहित्य में पिटती माँएँ या थाने में बेबाक होने वाली मार-पीट, साम्प्रदायिक दंगों की हिंसा आदि नहीं दिखाई जाती। दरअसल, हिंसा को एक समस्या के रूप में पेश ही नहीं किया जाता।

प्रसिद्ध शिक्षाविद कृष्ण कुमार ने अपनी पुस्तक *लर्निंग फ्रॉम कॉनफ्लिक्ट* में इस बात की पैरवी की थी कि हम पाठ्यक्रम में सामाजिक द्वन्द्वों से बचते हैं और इस प्रकार एक अत्यन्त समृद्ध शिक्षण संसाधन खो देते हैं। चोरी, हिंसा, व्यभिचार, गाली-गलौच, ये सब भी संसाधन हैं जो बाल पाठक के मन में गहरे सवाल छोड़ सकते हैं और गहरे द्वन्द्व छोड़ सकते हैं।

मुस्कान ने कई पुस्तकें व सामग्री प्रकाशित की है जिनमें पुलिस द्वारा की जाने वाली हिंसा पर प्रश्न उठाए गए हैं। कुछ दशक पहले किशोर भारती ने आदिवासी गाँव पर पुलिस आक्रमण पर एक गीत पुस्तिका प्रकाशित की थी, *बुदनी बनी पुलिस छावनी*। ये गैर-मुख्यधारा के प्रकाशन हैं जो बहुत सीमित मात्रा में प्रकाशित हुए हैं और एक निश्चित पाठक वर्ग को सम्बोधित करते हैं। लेकिन इनकी पहुँच सार्वभौमिक होना चाहिए और मुख्यधारा के बच्चों को इन सवालों से रूबरू करने की ज़रूरत है।

हम आज सामूहिक लिंचिंग को लेकर बहुत चिन्तित हो रहे हैं मगर जनमानस के अन्दर हिंसा को ज़रूरी और जायज़ ठहराने वाली भावनाओं को चुनौती कैसे दें, इस असमंजस में भी हैं। शायद बाल साहित्य में इन पर सवाल उठाकर हम कुछ नैतिक और मनोवैज्ञानिक द्वन्द्व पैदा कर सकते हैं।

सी.एन. सुब्रह्मण्यमः *एकलव्य* के सामाजिक विज्ञान कार्यक्रम से जुड़े रहे हैं। इतिहास और सम्बन्धित विषयों के बारे में लिखने में खास रुचि।

मुस्कान संस्था द्वारा 22-23 अगस्त 2019 को 'किताबों में विविधता की ज़रूरत है' विषय पर राज्य संग्रहालय, भोपाल में सेमिनार आयोजित किया गया था जिसमें प्रस्तुत पर्चे पर यह आलेख आधारित है।